'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' ग्रन्थमें से परसन्मुखता का निषेध विषयक वचनामृत

परसन्मुखता का निषेध

सुन–सुन करके मिल जायेगा, यह दृष्टि झूठी है। (कार्यसिद्धि) अपने (अन्तपुरुषार्थ) से ही होगी। सुनना, सुनाना, पढ़ना – ये सभी (बहिर्मुखीभाव, कार्यसिद्धिके लिए) बेकार हैं; ये हों तो भले हों; लेकिन उसका खेद होना चाहिए, निषेध आना चाहिए। १५.

❀

मैं पहले तो सब सुन लूँ, जान लूँ; पीछे पुरुषार्थ करुँगा (–ऐसा परिणाम, स्वभावकी अरुचिका द्योतक है) – ऐसे पीछेवाले सदा पीछे–पीछे ही रहेंगे। यह तो वर्तमान इसी क्षणसे ही (पुरुषार्थ) करनेकी बात है। १६.

❀

दूसरेसे सुनना–मगना–सब पामरता है, दीनता है, भिखारीपना है। मेरेमें क्या कमी है, जो मैं दूसरेसे मागूँ ! 'मैं तो स्वयं ही परिर्प्ण हूँ।' ४६.

❀

''अहो ! जे भावे तीर्थंकरगोत्र बन्धाय ते भाव पण नुकसान कर्ता छे'' यह बात कहनेकी किसकी ताक़त है ? –यह तो गुरुदेवश्रीकी ही सामर्थ्य है! ४७.

❀

तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे भी लाभ नहीं होता, तो फिर और किससे लाभ हो ? वह (दिव्यध्वनि) भी अपनेको (स्वको) छोड़कर एक भिन्न विषय ही है। (यह पर स्ननेके बहिर्मुखी परिणामसे छूटकर अंतर्मुख होनेकी प्रेरणा है।) ४८.

❀

पू.गुरुदेवश्रीने शास्त्र पढ़ते समय कहा कि – जैसे व्यापारमें बहीके पते फेरते हैं वैसे ही ये पन्ने हैं,। कोई फर्क नहीं; यदि इधरकी (ध्रुव चैतन्यकी) दृष्टि नहीं, तो दोनों समान हैं। ६१.

❀

तीर्थंकर–योग और वाणी मिली तो ठीक है, भविष्यमें भी इसी भावसे मिलेगी – ऐसे उसमें हौंस (उत्साह–रस) आता है, तो उससे कैसे छूटेगा ? लाभ मानता है तो कैसे छोड़ेगा ? इससे (ऐसे भावसे) नुकसान ही है, लाभ नहीं; लाभ तो अपनेसे ही है, वर्तमानसे ही मेरे लाभ है; ऐसा जोर नहीं होवे तो परमें अटक जाएगा। (बहिर्मुख परिणामका रस, परिणामको अंतर्मुख होनेमें बाधक होता है, ऐसा यह अभिप्राय है।) ६२.

❀

भगवानकी वाणी सुननेमें (सुननेके लक्ष्यमें) अपना नाश होता है। जैसे स्त्रीका विषय है वैसे यह भी विषय है। (–परलक्ष्यी सभी भाव, विषयभावके समान ही हैं; क्योंकि परमार्थसे तो परलक्ष्य होनेमें आत्म–गुणका घात ही होता है।) १०१.

❀

शेष अंष पृष्ठ संख्या १५ पर...

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४१ : अंक-२१५, वर्ष-२०, सितम्बर-२०१५

ज्येष्ठ कृष्ण ४, मंगलवार, दि. ७-६-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-२, गाथा-४ से ६

'**अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिवसुक्ख लहेवि**' देखो ! एक-दो पद में कारण और कार्य दो बताये। पहले में आत्मा शुद्ध भगवान पवित्र है, वह व्यवहार के विकल्प से भिन्न है, उसका ध्यान कर, इसे (परभाव को) छोड़। यहाँ ध्यान कर तो '**लहेवि**'। '**जिम**' प्राप्त करे। क्या ? '**जिम**' अर्थात् '**जिससे...**' जिससे '**सिवसुक्ख लहेवि**' मोक्ष के सुख को तू '**प्राप्त कर सके।**' लो, यह आत्मा के पूर्ण आनन्द के सुख को प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। आहा..हा...! इसमें भगवान की मूर्ति या पूजा या जात्रा-वात्रा तो कहीं आयी नहीं, हाँ ! इसमें। यह परभाव शुभ हो, उसका लक्ष्य छोड़, यहाँ ध्यान कर। इतना मोक्ष का कारण है।

मुमुक्षु :- सत्य है।

उत्तर :- क्या सत्य है परन्तु अभी तुम्हें मन्दिर बनाना है न ठीक ? अभी से होश उड़ जायेंगे।

मुमुक्षु :- वह तुम्हारे लिये नहीं।

उत्तर :- दो के मार्ग अलग होंगे ? यह तो हमारे कहे न, होश उड़ जाये, होश उड़ जाये। होश उड़ जाता है, क्या करना ? उसे यथार्थ तत्त्व की दृष्टि होवे कि ओ..हो...! हम यह कर नहीं सकते, होने के काल में होता है। विकल्प, राग आता है, वह भी मेरे वहाँ एकाग्र रहनेयोग्य नहीं है - ऐसा होता है। आहा..हा...! तब वे कहते हैं, बात अच्छी करते हैं परन्तु फिर लाखों के मन्दिर बनाते हैं। परन्तु कौन बनाता है ? सुन तो सही। वापस गाँव-गाँव में मन्दिर... 'बाँकानेर', 'मोरबी', 'राजकोट' और 'गोंडल', 'जैतपुर', 'पोरबन्दर', हैं ? इनकी ओर के बहुत अधिक रह गये, 'लाठी', 'बिछिया', 'बोटाद', 'लींबड़ी', 'बढ़वाण', 'कांप', 'जोरावरनगर' चारों ओर मन्दिर-मन्दिर।

भाई ! तुझे पता नहीं, प्रभु ! उस समय वे पर्याय वहाँ होने के काल में होती है। जिसे उनका प्रेम होता है, उस शुभभाव को निमित्त कहते हैं। ऐसा भाव-व्यवहार आये बिना नहीं रहता परन्तु वह व्यवहार बन्ध का कारण है - ऐसा इसे जानना चाहिए। कहो, समझ में आया ? भाई ! यह ९९ वें यात्रा से मोक्ष हो वह हराम है, यहाँ इनकार करते हैं। यह सब वहाँ मन्दिर बनाने में पड़नेवाले हैं। यह भी यहाँ से जानेवाले हैं, हैं ?

कर्ता कहाँ है ? कर्ता ही नहीं, यहाँ तो विवाद

ही यह है, करे कौन ? वहाँ रजकणों की अवस्था होने के काल में होती है, उसे करे कौन ? यह तो यहाँ लगी है। सवा तीन-तीन वर्ष होने आये तो भी तुम्हारा चलता नहीं। करना हो तो हो, तो अभी तक क्यों नहीं हुआ ? यहाँ तो कहते हैं कि किस संयोग में वहाँ आगे जो रजकण की रचना होने के काल में हुए बिना रहनेवाली नहीं है, उसमें आत्मा के शुभपरिणाम का अधिकार नहीं है कि शुभ परिणाम किया इसलिए हुआ और शुभपरिणाम हुए इसलिए यहाँ आत्मा में एकाग्रता होगी – ऐसा भी नहीं है। शुभ हुए, इसलिए वहाँ हुआ ऐसा नहीं और शुभ हुआ, इसलिये आत्मा की तरफ जाया जाता है – ऐसा भी नहीं है। अरे..! आहा..हा...! यह मार्ग वीतराग का है। आहा..हा...! कहो, भाई ! शुभभाव किये, इसलिए हुआ – ऐसा भी नहीं और शुभभाव हुआ, इसलिए आत्मा में अन्तर में एकाग्र होना सरल पड़ेगा (-ऐसा भी नहीं)। ए... भाई ! इन्होंने तो कराया है न पहले, अब कहाँ है इन्हें। ये बहुत सब कहते हैं, हाँ ! कि बात तो बहुत ऊंची करते हैं, सत्य लगती है परन्तु फिर यह पूजा, भक्ति और लप तो बड़े-बड़े गाँव-गाँव में बढ़ाते जाते हैं। ऐ...ई... भाई ! परन्तु बापू ! तुझे पता नहीं है। कौन बढ़ाये ? यह तो उसके काल में होता है; किसी के करने से नहीं होता ?

यहाँ तो बहुत वर्ष पहले मन्दिर बनाने का भाव था, लो ! पहले जब (संवत) १९९५ में गये न ! तब से बात थी। एक स्फटिक की मूर्ति लाओ। कहाँ ? 'घोघा'में थी। कहाँ गये भाई ! सो गये होंगे। समझ में आया ? स्फटिक की मूर्ति 'घोघा'में है, उसे यहाँ लाकर रखना। ऐसी बातें चलती थी, हम सुनते थे। न आया तो नहीं हुआ, न हो तो क्या ? यह (संवत) १९९७ में होने का था, वह हुआ। भाई ! यह बातें ऐसी हैं। पर के कार्य आत्मा करे, वह तो बहिरात्मा पर को (और) अपने को दोनों को एक मानता है। भिन्न मानने की उसकी योग्यता नहीं है, वहाँ तक चार गति के भय से छुटकारा नहीं है। आहा..हा...!

'जिम सिवसुक्ख लहेवि' देखो मोक्ष के सुख को पाता है – एक बात। चार गति में सुख नहीं है – ऐसा सिद्ध किया। मोक्ष के सुख को पाता है। शिव अर्थात् मोक्ष ! शिव अर्थात् शंकर का सुख – ऐसा नहीं। शिवसुख नहीं आता ? नमोत्थुणम में शब्द में शिव लयो शिव अर्थात् निरूपद्रव। उपद्रवरहित आत्मा के आनन्द की (प्राप्ति)। नमोत्थुणम में आता है परन्तु अर्थ कहाँ से आता होगा ? 'सिवमलयमरुयमणंतमरुमक्खय-मव्बाहमपुणरवित्ति' आता है न ? किसे पता एक भी शब्द का ? पहाड़े बोलते जाते हैं।

यहाँ भगवान सर्वज्ञ परमात्मा

ने कहा हुआ योगीन्दुदेव कहते हैं। आत क्या है ?- उसे पहले जानना और फिर उसका ध्यान करना अर्थात् दृष्टि का पलटा मारना। ऐसी (बहिर्मुख) दृष्टि है, (उसे) ऐसा (अन्तर्मुख) करना। उससे-ध्यान से शिवसुख प्राप्त करेगा। इसके अतिरिक्त मोक्ष के सुख की प्राप्ति का दूसरा उपाय वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के मार्ग में नहीं है। अन्यत्र तो है नहीं। पाँचवी (गाथा पूरी) हुई।

छठवीं। अब तीन प्रकार के आत्मा (कहते हैं)। आत्मा... आत्मा... करते हैं न ? परन्तु आत्मा की पर्याय के तीन प्रकार हैं। पर्याय के, हाँ ! समझ में आया ? अकेला सब आत्मा अनादि निर्मल ही है - ऐसा कहते हैं वह मिथ्या; अकेला मलिन ही है- ऐसा कहते हैं वह मिथ्या। यह तीन प्रकार के आत्मा... समझ में आया ? '**आत्मा के तीन प्रकार-**'

तिपयारो अप्पा मुणहि परू अंतरू बहिरप्पु।
पर झायहि अंतरसहिउ बाहिरू चयहि णिभंतु।।६।।

'**आत्मा को तीन प्रकार जानो।**' आत्मा की पर्याय - अवस्था से, हाँ ! अवस्था से। द्रव्यरूप से तो त्रिकाल एकरूप है। पर्याय में-अवस्था में-हालत में भूल, भूल का मिटना और निर्भूल की पूर्णता की प्राप्ति सब पर्याय में है। क्या कहा यह ? बहिरात्मपना भी उसकी पर्याय में है। राग, पुण्य को अपना मानना, वह उसकी पर्याय में है। अन्तर आत्मपना - आत्मा शुद्ध है - ऐसा मानना उसकी पर्याय में है और पूर्ण परमात्मारूप परिणमित होना, वह भी उसकी पर्याय में है।

'**आत्मा को तीन प्रकार जानो। परमात्मा...**' पहले यह लिया। उत्कृष्ट परमात्मदशा। शक्तिरूप से परमात्मा तो प्रत्येक आत्मा है। क्या कहा ? जो परमात्मा की पर्याय प्रगट होनी है, सादि-अनन्त... वह सब शक्तियाँ वर्तमान अन्तरात्मा में पड़ी हैं। वर्तमान शक्ति पड़ी है परन्तु प्रगट पर्याय की अपेक्षा यहाँ परमात्मा की बात करते हैं। समझ में आया ? अप्रगटरूप से- शक्तिरूप से तो प्रत्येक आत्मा में जितनी परमात्मा की पर्याय प्रगट होनी है, वह सब अप्रगटरूप से - शक्तिरूप से अन्दर आत्मा में अभी पड़ी है। समझ में आया ? परन्तु प्रगट पर्याय की अपेक्षा से परमात्मा होवे, उसे यहाँ परमात्मा गिना गया है। आहा..हा...!

'**अन्तरात्मा...**' दूसरा अन्तरात्मा परमपूर्ण हो गया। अन्दर वस्तु जो परमात्मशक्ति है और इस अन्तरात्मा की सभी पर्यायें ये भी सब शक्तियाँ अन्दर है और बहिरात्मा की समस्त पर्यायों की भी शक्तियाँ अन्दर पड़ी हैं। सब पड़ी है, एक समय में सब पड़ी है। उसमें इसने आत्मा राग से, पुण्य से भिन्न निर्विकल्प शुद्ध परमात्मा का स्वरूप उसे पर्याय में प्रगट नहीं हुआ परन्तु वस्तु से ऐसा है। ऐसा जिसने श्रद्धा-ज्ञान से ध्यान करके निर्णय किया है, उसे वर्तमान दशा की निर्मलता के, अपूर्ण निर्मलता की अपेक्षा उसे अन्तरात्मा कहा जाता है। समझ में आया ?

'**बहिरप्पु, बहिरप्पु**' यह बाहर में आत्मा माननेवाला। अन्तर में भले परमात्म शक्ति, अन्तरात्म शक्ति, बहिरात्म शक्ति सब पड़ी है। समझ में आया ? परन्तु जो वर्तमान अवस्था में बाहर, बाहर... भगवान पूर्ण शुद्ध निर्मलानन्द है, उसके अतिरिक्त के दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, देहादि की क्रिया को अपनी माननेवाला, उसमें से हित माननेवाला... जिससे हित माने उसे भिन्न नहीं मान सकता, उसे बहिरात्मा कहा जाता है।

यहाँ ऐसा नहीं कहा कि इतनी क्रिया नहीं करता, इसलिए वह अन्तरात्मा है... बाहर की, और

इतनी क्रिया अन्दर राग की करता है, इसलिए बहिरात्मा है। यह रागादि की क्रिया दया, दान, व्रत के परिणाम जो आस्रवतत्त्व है, वह बहिर तत्त्व है, उसे आत्मा का हित (करनेवाला है-ऐसा) माननेवाला बहिरात्मा है। समझ में आया ?

'**बहिरप्पु, बहिरात्मा...**' अथवा किसी भी कर्मजन्य उपाधि के संसर्ग में आकर कहीं भी उल्लसित वीर्य से, उल्लसित वीर्य से उत्साह करना, वह बहिरात्मा है। क्या कहा ? भगवान आत्मा को आनन्दमूर्ति के उल्लसित वीर्य का आदर छोड़कर, बाहर की किसी भी कर्मजन्य उपाधिभाव या संयोग किसी भी संसर्ग में आने पर उसमें उल्लसितरूप से अन्दर वीर्य उल्लसित हो जाये... यह...! आहा..हा...! ऐसे पर में विस्मयता हो उसे बहिरात्मा कहा जाता है। समझ में आया ? आहा..हा...! अन्तर के आनन्द से प्रसन्न न हुआ; वह तो बाहर के शुभाशुभभाव और उसके फल, उसके संयोग जो बाह्य, आत्मा के स्वभाव से बाहर वर्तते हैं, बाहर में प्रसन्न हुआ, उन्हें ही आत्मपना माना, उसे बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि कहते हैं। आहा..हा...!

छह खण्ड का राजा, छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़ा हुआ, उसे अन्तर में बाह्य त्याग न दिखने पर भी, अन्तर में राग का विवेक और राग का त्याग वर्तता है। राग का विवेक अर्थात् भिन्न और आत्मा की एकता में उसका त्याग वर्तता है। बहिरात्मा को बाह्य त्याग नग्न दिगम्बर (हुआ हो), महा अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, चमड़ी उतार कर नमक छिड़कने पर भी क्रोध न करे, अन्तर में उसे राग का अत्याग और राग के साथ एकत्वबुद्धि पड़ी है, वह बहिरात्मा, बाह्य बुद्धि में प्रसन्न होनेवाला है। समझ में आया ? आहा..हा...!

शरीर की निरोगता मुझे साधन होगी... शरीर की निरोगता मेरे आत्मा को साधन होगी, रोग के समय मुझे प्रतिकूलता थी, अब शरीर में कुछ निरोगता हुई, कुछ पैसे इत्यादि की व्यवस्था हुई, अब मैं निर्विघ्न धर्मध्यान कर सकूँगा। अब क्या है ? परन्तु लड़के-बड़के ठिकाने लगे हों तो बढ़िया रहे, लो ! नहीं (तो) वहाँ उनके पास जाना पड़ेगा। आहा..हा...! आत्मा के अतिरिक्त रजकण से लेकर सभी प्रकार की बाह्य रिद्धियाँ, कहीं उनमें अनुकूलता मान ली जाये और प्रतिकूलता के संसर्ग में कहीं उसके कारण अरुचि हो, उसे बुद्धि बहिरात्म है। बाहर में रुकी हुई बुद्धि है। आहा..हा...! यह तो स्वयं आचार्य कहेंगे आगे, हाँ ! यहाँ तो अभी साधारण बात करते हैं।

'**भ्रान्ति अथवा शंकारहित होकर...**' अब तीन में से भ्रान्ति और शंकारहित होकर '**बहिरात्मपना छोड़ दे...**' इन शुभाशुभभाव से लेकर पूरे जगत की सामग्री, इस अनुकूल-प्रतिकूलता में उल्लसित वीर्य को छोड़ दे। आहा..हा...! इस हर्ष के भाव में चढ़ा हुआ तेरा भाव वह बहिरात्मा है, कहते हैं। प्रतिकूल सामग्री में खेद में चढ़ा हुआ तेरा भाव भी बहिरात्मा है। समझ में आया ?

'**भ्रान्ति अथवा शंकारहित होकर बहिरात्मपना छोड दे, अन्तरात्मा होकर...**' भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप है - ऐसी दशा को प्राप्त करके, अन्तरात्मा की दशा को बहिरात्मा की श्रद्धा-ज्ञान से त्याग करके, श्रद्धा-ज्ञान में बहिरात्मा बुद्धि का त्याग करके, श्रद्धा-ज्ञान में अन्तरात्मा को ग्रहण करके परमात्मा का ध्यान कर। अन्तरात्मा का ध्यान करने का नहीं रहा फिर। समझ में आया ?

(मुमुक्षु :- प्रमाण वचन गुरुदेव।)

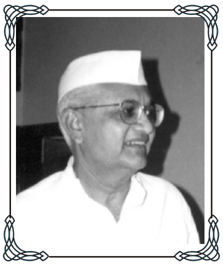

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रन्थ के वचनामृत–३०० पर हुआ भाववाही प्रवचन

दि. १३–७–१९८३, प्रवचन क्रमांक–१४३ (विषय – विधि)

दर्शनमोह को मन्द किए बिना वस्तुस्वभाव खयाल में नहीं आता; और दर्शनमोह का अभाव किए बिना आत्मा अनुभव में आ सके, ऐसा नहीं है। ३००

'**दर्शनमोह को मन्द किए बिना वस्तुस्वभाव खयाल में नहीं आता; और दर्शनमोह का अभाव किए बिना आत्मा अनुभव में आ सके, ऐसा नहीं है।**' सिद्धान्त है। '**दर्शनमोह को मन्द किए बिना...**' अथवा दर्शनमोह मन्द हुए बिना '**वस्तुस्वभाव खयाल में नहीं आता;...**' अर्थात् पहचानने में वस्तु का स्वभाव पहचान में नहीं आता। ज्ञान का क्षयोपशम चाहे जितना हो, लेकिन दर्शनमोह की मन्दता हुए बिना, उस ज्ञान में अपने ही स्वरूप का खयाल आना, ऐसा बनता नहीं। चाहे जितनी क्षयोपशमयुक्त बुद्धि हो, विद्वता हो, बुद्धि का उघाड़ बहुत हो, विशाल बुद्धि दिखे, तीक्ष्ण बुद्धि दिखे, बहुत ही स्मृतियुक्त मति हो, वह मतिज्ञान का भेद है। स्मृति है वह मतिज्ञान का भेद है। इसप्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में लोगों को आकर्षण हो। बाह्यदृष्टि जीवों को तो ज्ञानी होने का भ्रम होता है कि बहुत ज्ञान है और ये बहुत ज्ञानी है। तो भी अपने ही स्वरूप का प्रतिभास होना वह ज्ञान की उस भूमिका की निर्मलता के आधारित है। बुद्धि के उघाड़ के आधारित या उस प्रकार के ज्ञान की क्षयोपशम शक्ति के विकास के कारण आत्मा का खयाल आये, ऐसा बनता नहीं।

रूपी पदार्थ में बड़ा वैज्ञानिक हो और बहुत बड़ी–बड़ी खोज करे, विमान बनाए, मिसाईल बनाए और चाहे जितना हो। इस ओर शास्त्र की ओर मुड़े तो शास्त्र के अर्थ करने में कहीं फ़र्क़ नहीं पड़े। नयज्ञान में बुद्धि वहाँ तक पहुँचती हो। फिर भी आत्मा भासित होना वह दूसरी बात है। उसका नियम भी यह है। यहाँ 'गुरुदेव' कहते हैं वह है।

दर्शनमोह मन्द हुए बिना अथवा किये बिना कहो, एक ही बात है। '**वस्तुस्वभाव खयाल में नहीं आता,...**' वस्तु का स्वभाव अर्थात् स्वयं आत्मवस्तु। अपना स्वभाव खयाल में आना, हाँ! अनुभव की बात तो अभी आगे की बात है, बाद की बात है। लेकिन प्रथम उसकी पहचान होनी, उसका निर्णय होना, जैसा स्वभाव है वैसा ही भाव भासित होना, वह दर्शनमोह की मन्दता होनेपर होता है।

वैसे तो दर्शनमोह मन्द होता है उसके भिन्न–भिन्न तबक़े हैं। उसका विचार करें तो समान्यतः सच्चे देव–गुरु–शास्त्र के प्रति जीव मुड़े और कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र जो छह अनायतन हैं, उस ओर की मान्यता का त्याग करे, बुद्धिपूर्वक देव–गुरु–शास्त्र, वीतराग देव–गुरु–शास्त्र कैसे होते हैं उसका विचार करके उसका स्वीकार करे। विचारकर स्वीकार करे। तो उसे दर्शनमोह एक तबक़े मन्द होता है। अर्थात् गृहीत मिथ्यादर्शन का जो तीव्र दर्शनमोह था वहाँ उसे गृहीत नहीं रहता। तत्पश्चात् तत्त्वज्ञान का अभ्यास करे तब भी उसे दर्शनमोह मन्द होता है। तत्त्वज्ञान के अभ्यास में भी कब (दर्शनमोह मन्द होता है?) कि, सिद्धान्त का जानपना शास्त्र अनुसार हो तब। कहने का आशय

कुछ हो और मतिविपर्यास के कारण उसका अर्थ विपरीत भासे, तो वहाँ अभी दर्शनमोह मन्द हुआ नहीं। लेकिन शास्त्र का अर्थघटन बराबर करे, उस समय भी उसे दर्शनमोह मन्द होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता नहीं, स्वभाव से आत्मा राग को करता नहीं, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ कर सकता नहीं और स्वभाव से आत्मा राग को करता नहीं, राग से धर्म नहीं होता, इत्यादि जो मुख्य-मुख्य सिद्धान्त हैं, वह उसे बुद्धि में संमत हो तो उसे मिथ्यात्व मन्द होता है। लेकिन ऐसे सब प्रकार तक तो जीव अनन्त बार आया है। यह कोई अपूर्व विषय नहीं है, पूर्वानुपूर्व है। और सामान्यजन कोई भी यहाँ तक पहुँच सकता है।

पुनः, वहाँ आकर वैराग्य में रहे, वैराग्य में आये। अर्थात् पाँच इन्द्रिय के विषयों की सुखबुद्धि मन्द हो, उस समय भी दर्शनमोह विशेष मन्द होता है। क्योंकि दर्शनमोह का ऐसा एक स्वभाव है कि परविषय में सुख का उसे आभास होता है, भ्रम होता है, व्यामोह होता है। ऐसे प्रकार में मन्दता होती है उस समय भी दर्शनमोह मन्द होता है। यह भी अनन्त बार हो चुका है। उदास भी अनन्त बार हुआ, वैराग्य भी अनन्त बार आया।

वह तो 'श्रीमद्जी'ने लिया है न ? 'त्याग विराग अथाग लह्यो'। उसमें शास्त्रज्ञान किया आदि सब उसमें लिया है। जप, तप, शास्त्रज्ञान, त्याग, वैराग्य सब ले लिया है। फिर भी दर्शनमोह कोई अपूर्व प्रकार से मन्द होता है वह तबक़ा बिलकूल अलग है।

यह विषय वचनामृत में 'बहिनश्री'ने विशेषरूप से स्पष्ट किया है। इसलिये 'गुरुदेव' ने विशेष महिमा की है। यह विषय उन्होंने अधिक (स्पष्ट किया है कि) कोई जीव शुद्ध आत्मभाव से, सच्ची भावना से, समस्त प्रकार के, अनेकविध प्रकार के जो कोई बाह्य विषय हैं, उसमें से सुखबुद्धि हटाकर एक आत्मा में ही सुख है और आत्मा में ही सुख के पीछे विशेषरूप से उसकी तीव्र भावना से, अपूर्व जिज्ञासा से, पूरी लगन से और पूर्ण जोश से, एक ध्येय बाँधकर, एक परिपूर्ण होने का ध्येय बाँधकर, एक ध्येय यानी परिपूर्ण होने का ध्येय बाँधकर अप्रमत्तरूप से-प्रमाद किये बिना, व्यर्थ समय गँवाये बिना पूर्ण आत्मार्थी बनकर, जब वह अपनी आत्मा को प्राप्त करनेकी तैयारीवाला होता है, तब उसे दर्शनमोह यथार्थ प्रकार से कम होता है कि जब उसे उसके ज्ञान में आत्मस्वरूप प्रतिभासित हो। यहाँ खयाल में आये (ऐसा) सादा शब्द लिया है। शास्त्रिय परिभाषा में उसे अवभासन, प्रतिभासन कहते हैं।

स्वरूप निर्णय करने के लिये ज्ञान कब समर्थ होता है ? अथवा मुमुक्षु की ऐसी पात्रता एवं योग्यता कब होती है ? इस बात पर यदि लक्ष्य हो तो उसे समस्त शास्त्रार्थ सार्थक होना सम्भवित है। नहीं तो शास्त्र में प्रवीण हो जाय तो भी उसका कोई फल नहीं है।

'पूज्य बहिनश्री' ने खास प्रकार की पात्रता का विषय जहाँ लिया है वहाँ तो यह बात की है कि जिसे एक आत्मा ही चाहिये और इस जगतमें-से उसे कुछ नहीं चाहिये। पूरे जगतमें-से उसे कुछ नहीं चाहिये, एक आत्मा ही चाहिये और उसका पूरा प्रयत्न आत्मानुभव का मूल खोजने में ही प्रवर्तता है। उस-ही का मूल खोजता है, और जगह उसकी दृष्टि नहीं है। ऐसी स्वयं के प्रयोजन की तीक्ष्ण बुद्धि होती है। उसमें क्षयोपशम की आवश्यकता नहीं है। प्रयोजन में तो कम से कम बुद्धिवाला जीव तीक्ष्ण बुद्धि से प्रवर्तता है और प्रवर्त सकता है। तिर्यंच भी प्रवर्तता है। ऐसी स्थिति में इसप्रकार से '**दर्शनमोह मन्द किये बिना...**' ऐसे लेना है। इसके पीछे इतनी शर्त है। दर्शनमोह मन्द करने की बात है वहाँ इतनी शर्त है कि इसप्रकार यथार्थ प्रकार से दर्शनमोह मन्द किये बिना।

'श्रीमद्जी'ने यह लिया है कि नाना प्रकार के विभिन्न प्रकार के सुख के स्थान हैं, वहाँ-से सुख लेने

में जिसे अकुलाहट होती है। ऐसा शब्द लिया है। अकुलाहट होती है। तब जीव की मति गुण से उत्पन्न होनेवाले सुख पर जाती है। ऐसी भाषा की है। मुमुक्षुता की भी ऐसी ही परिभाषा की है। मुमुक्षुता वह है कि सर्व प्रकार की मोहास्कति से अकुलाकर एक मोक्ष के लिये ही यत्न करना। जिसे परिपूर्णता का ध्येय है, मोक्ष अर्थात् परिपूर्णता का ध्येय है, वह किसप्रकार प्रयत्न करता है ? कि सर्व प्रकार की मोहास्कति के परिणाम उसे जिस-जिस प्रकार से होते हैं, उसमें उसे अकुलाहट होती है। जैसे किसी की नाक बंद कर दें और अकुलाहट होती है, वैसे वह अकुलाहट में आता है। तब उसे मुमुक्षुता उत्पन्न होती है, तब उसे दर्शनमोह मन्द होता है, तब उसे आत्मस्वभाव खयाल में आता है। तब तक उसे खयाल में नहीं आता है कि मेरा स्वरूप कैसा है ? यह विषय उन्होंने अन्य एक जगह भी लिया है। वह भी बहुत सुन्दर शब्दों में लिया है।

२३वें वर्ष में है। 'नाना प्रकार का मोह मन्द होने से' सादी भाषा में (लिया है)। वह दर्शनमोह मन्द हुआ। अन्य पदार्थ ज्ञान में प्रतिबिंबित होते ही एक व्यामोह होता है कि यह ठीक है, यह मुझे प्राप्त हो। यह अठीक है और यह मुझे नहीं चाहिये। अस्ति-नास्ति से उसके दोनों प्रकार हैं, यह प्रकार जिसका मन्द पड़ जाता है। कोई पदार्थ ठीक-अठीक नहीं है और इस आत्मा को किसी भी पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, हो सकता नहीं। बस। तब आत्मा की दृष्टि स्वयं के गुण से उत्पन्न होनेवाले सुख पर जाती है। परपदार्थ के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले सुख में दृष्टि है, तब तक तीव्र दर्शनमोह है। तब तक उसे आत्मा प्रतिभासित नहीं होता।

यह विषय इन्होंने-'श्रीमद्जी' ने भी भिन्न-भिन्न जगह भिन्न-भिन्न शैली में लिया है। कथनशैली बदलकर लिया है। वह २५वें वर्ष में है कि '**भ्रांतिवश सुखस्वरूप भासमान होते हैं ऐसे इन संसारी प्रसंगों...**' उसे कहीं भी ठीक लगता है, तब वह अपनी आत्मा से अन्य प्रसंग को अधिक महत्ता देता है। उसकी महिमा आयी इसका अर्थ ही यह है कि तुझ-से वह अधिक हुआ इसलिये (महिमा आयी है)। सर्व उदय में वह उदय की महत्ता करता है तब तक उसे ज्ञानस्वभाव अधिकरूप नहीं लगा। यह परिस्थिति है। '**ऐसे संसारी प्रसंग और प्रकारों में जब तक जीव को प्रीति रहती है,...**' यह प्रीति, मीठास वर्तती है.. शैली भिन्न-भिन्न करते हैं। '**तब तक जीवको अपने स्वरूपका भास होना असंभव है,...**' (यहाँ ऐसा कहा), '**वस्तुस्वभाव खयाल में नहीं आता,...**' तब तक उसे अपना स्वरूप का भास होना असंभव है। क्योंकि उसे यहाँ सुख लगा तो यहाँ (आत्मा में) सुख है यह बात उसे भासित नहीं हुयी। यह सीधी बात है। जहाँ सुख नहीं है वहाँ सुख लगा अथवा जो कषाय की मन्दता और शाता के परिणाम हैं, वहाँ उसे सुख लगा, वहाँ उसे आत्मा में सुख है यह बात भासित होनी मुश्किल है, असंभवित है और यह बन नहीं सकता।

'**तब तक जीवको अपने स्वरूपका भास होना असंभव है...**' इतना ही नहीं। यहाँ इससे भी कुछ अधिक बात लिखी है कि स्व अपेक्षा से उसे स्वस्वरूप का भास होना असंभव है और पर अपेक्षा से उसे '**सत्संगका माहात्म्य भी तथारूपतासे भासमान होना असंभव है।**' ऐसे लिया।

मुमुक्षु :- स्व-पर दोनों ले लिये।

पूज्य भाईश्री :- दोनों ले लिये। आत्मा भासमान होने का जो प्रकृष्ट-उत्कृष्ट निमित्त सत्संग है उसका माहात्म्य भी उसे भासित नहीं हुआ। वह उसे भासमान होना असंभवित है, ऐसे ले लिया। ऐसी बात है। इसलिये वह ज्ञानी के समागम को प्रायोरिटी नहीं दे पायेगा।

पहले उसे सुख का कारण है उसकी प्रधानता, उसमें-से समय मिले और वहाँ-से वृत्ति की कुछ

निवृत्ति हो तो वहाँ जाय, नहीं तो कोई बात नहीं। पहले यह और बाकी सब बाद में। अर्थात् पहले उसका संसार और फिर दूसरा मोक्ष। यह बात हो गयी। इसमें-से नीकलने का कभी अवसर नहीं आता।

'**जब तक यह संसारगत प्रीति असंसारगत प्रीतिको...**' अर्थात् मोक्षमार्ग प्रति वह प्रीति प्राप्त न हो, '**तब तक अवश्य ही अप्रमत्तभावसे...**' प्रमाद लाये बिना। जब तक इस जीव को संसार के संयोग वियोग में मुख्यता वर्तती है, तब तक प्रमाद किये बिना, '**वारंवार पुरुषार्थको स्वीकार करना योग्य है।**' तुझे पुरुषार्थ करुं, पुरुषार्थ करुं, ऐसे पुरुषार्थ करने का ज़ोर आता है तो इस स्थानपर उसे तुम एप्लाय करो। यहाँ एक बहुत सुन्दर अपेक्षा यह बतायी है कि अकृत्रिम सहज पुरुषार्थ में तेरे पुरुषार्थ का परिणमन आया नहीं है, उस स्टेज और उस दरजे में तेरा पुरुषार्थ शुरू नहीं हुआ है, इस दरजे में तेरा प्रवेश नहीं हुआ है, तो तुझे पुरुषार्थ करना है न ? तो इस जगह तुम उस पुरुषार्थ करने के विषय को लागु करो कि जब तक मुझे अन्य प्रसंगों की मुख्यता वर्तती है, तब तक मुझे प्रमाद किये बिना, समय गँवाये बिना, व्यर्थ गँवाये बिना इस स्थान में पुरुषार्थ करना उचित है अर्थात् मुझे यह मेरी प्रीति तोड़नी उचित है।

'**यह बात त्रिकालमें विसंवादरहित जानकर निष्कामभावसे लिखी है.**' आप-से कोई अपेक्षा रखकर नहीं लिखी। पत्र तो चाहे जिसे लिखा हो। ३३१ पत्र है। लेकिन इसमें कोई विवाद का अवकाश नहीं है, विसंवाद की जगह नहीं है और लिखने के पीछे परमार्थ के सिवा कोई खास प्रयोजन नहीं है। यह सब बोल दर्शनमोह के विषय में समाविष्ट होते हैं।

'**दर्शनमोह मन्द किये बिना वस्तुस्वभाव खयालमें नहीं आता...**' मुमुक्षुता की भूमिका का यह सिद्धान्त है, यह नियम है। इसलिये अत्यंत सँभलकर और बहुत सावधानी से अन्दर में अपने में इस विषय को जागृत होकर उसे टालना चाहिये। इतनी बात है। नहीं तो कभी भी वस्तु का स्वभाव खयाल में नहीं आयेगा। भले ही आजीवन शास्त्र स्वाध्याय करके देह सूख जाये, इतने शास्त्र पढे कि शरीर का ध्यान रखे नहीं, लेकिन दर्शनमोह अन्दर में मन्द होना चाहिये। इतनी बात है।

मुमुक्षु :- मोह मन्द करने के लिये सर्वप्रथम क्या करना चाहिये ?

पूज्य भाईश्री :- मोह मन्द करने का यह विषय लिया न, कि उसकी जो आत्मप्राप्ति की भावना है, पूर्णता का जो ध्येय है, उसके पीछे उसका जो जोश है, 'बहिनश्री' के शब्दों में कहें तो यह है (कि) अन्तरंग से उसकी भावना उत्पन्न होनी चाहिये। अथवा जब तक उसे आत्मनिर्णय नहीं हो... आगे वचनामृत आ गये हैं, जब तक उसे निश्चय नहीं हो, आत्मा खयाल में नहीं आये, भासित नहीं हो तब तक जैसे कोई बाघ, सिंह, सर्प घर में घुम रहे हो और नींद नहीं आये, वैसे उसकी बेचैनी हो जानी चाहिये। यह सब इसके चिह्न बतलाये हैं। कितनी बेचैनी हो, भावना हो तो उसकी लगन कितनी ज़ोर से काम करे। नास्ति से उसका विषय यह बतलाया कि उसे कहीं सुखचैन नहीं लगे। आगे यह बात ली है। बचैनी का वचनामृत है न ?

मुमुक्षु :- १९०.

पूज्य भाईश्री :- हाँ। तत्त्वनिर्णय पूर्व बेचैनी की स्थिति। १९० ही है। बराबर है। कोई-कोई वचनामृत पर लिखा है। १९० बराबर है। पृष्ठ संख्या-३८ है।

'**जैसे सिंहको चारों ओर घूमते देखकर नींद नहीं आती,...**' काला नाग घर में फन निकालकर बैठा हो, फुँकारता हो तो नींद नहीं आती। अन्दर में यह मिथ्यात्व का काला नाग है। वैसे नींद नहीं आती। यह वास्तविक परिस्थिति है। यह कोई बढा-चढाकर अतिशयोक्ति करके ज्ञानिओंने गप मारी है, ऐसा मानने जैसा नहीं है। निर्णय करने से पहले उनकी यह परिस्थिति हो गई है। एकबार उनकी नींद ऊड़ गई है।

यह निर्णय करने के पीछे वे जिसप्रकार मथे हैं, जो मंथन चलता है, उसमें एकबार नींद ऊड़ जाती है।

यहाँ भी संसार में थोडी प्रतिकूलता आती है तो उसकी नींद ऊड़ जाती है या नहीं? थोड़ी उपाधि बढ़ जाय तब भाईसाहब को पलंग पर करवट बदलते रहनेपर भी नींद आती। पंखा घूम रहा हो, एर-कंडीशन चलता है फिर भी उसे कहीं नींद नहीं आती। क्योंकि उसमें-से नींद नहीं आती। न तो पलंग के गद्देमें-से नींद आती है, ना ही पंखे या एर-कंडीशनमें से नींद आती है। वहाँ-से नींद आती है ? लेकिन उसे ऐसा लगता है कि यह सब ठीक हो तो मुझे नींद आये। मानो उसमें-से आती हो। ऐसा उसे भ्रम होता है।

इसप्रकार '**तत्त्वनिर्णय न हो तब तक जीवको सुखी नींद नहीं आती।**' उसे सुखी नींद नहीं आती। ऐसी उसकी परिस्थिति बनती है। उसके परमात्मा का वियोग हो तो वियोग उसे सहन नहीं होता। यहाँ संसार में भी वियोग सहन नहीं करते। बहुत लोग मर जाते हैं न ? पति की मृत्यु हो और पत्नी के प्राण चले जाते हैं। पत्नी की मृत्यु हो और पति के प्राण चले जाते हैं। इतनी तो अभी संसार के दाम्पत्य जीवन में परिस्थिति उत्पन्न होती है। संयोगी वस्तु में। और यहाँ परमात्मा अन्दर में विराजमान हैं, करीब है फिर भी उसके आडे परदा है। मिथ्यात्व का परदा दर्शन होने नहीं देता तो उसे रोना भी नहीं आता। रोता भी नहीं। ठीक! मरे तो कहाँ ?

कहते हैं कि तेरा मिथ्यात्व ऐसे ही नहीं गलेगा। मिथ्यात्व मन्द होना कहो या मिथ्यात्व का गलना कहो। यथार्थ प्रकार से इसप्रकार मिथ्यात्व गले बिना किसी भी प्रकार से उसे भासन नहीं होता। और भासन हो तो उसके ज्ञान में शक्ति आती है। वह (परमागमसार-२३६) में लिया है। यह तो भूल जाते हैं न। पढा हो वह भूल जाते हैं। फिर से पढ़ना पड़ता है।

मुमुक्षु :- पृष्ठ-४३.

पूज्य भाईश्री :- पृष्ठ-४३.

'**समझके द्वारा ज्ञानमें जैसे-जैसे भाव-भासन विकसित होता जाता है,...**' यहाँ भावभासन शब्दप्रयोग किया है। पहचान कहो या भावभासन कहो। '**वैसे-वैसे ज्ञानकी सामर्थ्य बढ़ती जाती है।**' यह उघाड की बात नहीं है। आत्मस्वभाव को ग्रहण करने की जो सामर्थ्य है, अनुभव की ओर पहुँचने का, अनुभव प्रति आगे बढ़ने की जो सामर्थ्य है वह, समझ में भावभासन विकसित होता है तब आती है, तब बढ़ती है। और उस बढ़ती हुई ज्ञान सामर्थ्य द्वारा मोह यानी यहाँ दर्शनमोह शिथिल होता है, दर्शनमोह मन्द होता है, दर्शनमोह गलने लगता है।

तब '**ज्ञान जब सम्यक् रूपसे परिणमित होता है, तब मोहसमूह नाशको प्राप्त होता है।**' और तब उसे ज्ञान द्वारा आत्मा अनुभव में आता है। यहाँ ज्ञान के सिवा अन्य कोई आत्मसिद्धि का साधन नहीं है, यह बात समझानी है। ज्ञान की प्रधानता से यह बात लेनी है। लेकिन मोह को और अनुभव को यह सम्बन्ध है कि मोह मन्द हो, गले तो उसका दर्शनमोह का नाश हो और दर्शनमोह का नाश हो तो अनुभव होता है। दर्शनमोह रहे और अनुभव हो, ऐसा कदापि बनता नहीं। दो पंक्ति की बात लिखी है लेकिन उसमें माल है। ज्ञानगोष्ठीमें-से लिया होगा, ऐसा लगता है।

मुमुक्षु :- ... में ऐसा है, चैन नहीं पड़े।

पूज्य भाईश्री :- हाँ। उसमें जरूरत का विषय है। पीछे पड़ना चाहिये। जैसे कोई ऐसा नहीं कहते ? कि भाई! ये तो खा-पीकर पीछे पड़ गया है। खा-पीकर अर्थात् खाली पेट ताकत नहीं होती, ये पूरी ताकत से पीछे पड़ गया है। इसी संदर्भ में वचनामृत है।

'**दर्शनमोहका अभाव किए बिना...**' नाश हुए बिना। मन्द होना दूसरी बात है, अभाव होना दूसरी बात है। पूरी भूमिका बदल गयी। नया तबका शुरू हुआ। वहाँ सम्यग्ज्ञान का प्रारंभ हुआ, दर्शनमोह का वहाँ नाश हुआ, वहाँ सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया। उसके '**बिना आत्मा अनुभवमें आ सके ऐसा नहीं है।**'

निरावरणज्ञान है...

मुमुक्षु :– खयाल में आता है...

पूज्य भाईश्री :– जब आत्मा का भाव भासित हो... इसीलिये तो २३६वाँ वचनामृत लिया। तब उसकी ज्ञान सामर्थ्य बढ़ती जाती है। ज्ञान की शक्ति क्या है ? कि स्वपरग्राहक ज्ञान की शक्ति है। यहाँ जानने को ग्रहण कहते हैं। स्वपरग्राहक जो ज्ञान की शक्ति है उसमें पर को तो वह ग्रहता है, लेकिन स्व का ग्रहण नहीं करता। स्व को छोड़कर पर को ग्रहण करता है,वयह एकान्त है, वह मिथ्यात्व है, वह असम्यक् है। ऐसा लेना है।

जब दर्शनमोह मन्द हो और मोह का अभावस्वभावी जो अपना आत्मतत्त्व, स्व तत्त्व, उसका उसे खयाल आता है कि मैं निर्मोही तत्त्व हूँ। परिपूर्ण शुद्ध निर्विकार तत्त्व हूँ, ऐसा उसे अपना खयाल आता है, अपना भाव भासित होता है। वह दर्शनमोह के सद्भाव में भासित होता है। दर्शनमोह की मन्दता के सद्भाव में भासित होता है। तब तक वहाँ उसका उसे अभाव नहीं हुआ है। तब उसकी ज्ञानशक्ति जो है वह आत्मा को ग्रहण करने के लिये, तब उसकी ज्ञानशक्ति तैयार होती है।

ज्ञान में शक्ति कब आती है ? कोई भी एक कार्य करना हो तो वह कार्य करने की कार्यक्षमता आवश्यक है, अपेक्षित है। यह तो बराबर है न ? तो कहते हैं कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को दर्शनमोह इतना प्रचुर है कि उसके ज्ञान में अनेक प्रकार से गुण–दोष का विचार करने की सामान्य शक्ति होनेपर भी और उस गुण–दोष का विचार, उसका साहित्य और उसका विज्ञान है जिसमें ऐसे सत्शास्त्र, उसके साथ उसका ज्ञान, उसकी बुद्धि लगती होनेपर भी यथार्थ प्रकार से दर्शनमोह यदि मन्द नहीं होता है तो उस ज्ञान में स्वरूप को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं आती।

(वह ज्ञान सामर्थ्य विकसित होता हुआ) मोह का नाश करता है। यह २३६ में लिया। वह विकसित होता हुआ मोह को टालता है। राग करते–करते, किसी भी प्रकार का राग करते–करते वीतरागता नहीं होगी, लेकिन ऐसी ज्ञान सामर्थ्य प्रगट होगी तो वह ज्ञान विकसित होता हुआ, ज्ञान सामर्थ्य विकसित होनेपर वह अनुभव तक पहुँच पायेगा कि जिसमें दर्शनमोह टल जायेगा, नाश हो जायेगा।

इसलिये किसी भी जीव को दर्शनमोह का अभाव हुए बिना, किये बिना कहो या हुए बिना (कहो), '**आत्मा अनुभवमें आ सके ऐसा नहीं है।**' मोह के अभावस्वभाव स्वरूप रहा आत्मा, दर्शनमोह के सद्भाव में कभी भी अनुभवगोचर नहीं होता। फिर जो मोह रहा वह चारित्र की अस्थिरता का रहा। फिर तो वह शक्तिहिन है, फिर जो विभाव रहा है वह शक्तिहिन, हिनसत्त्व हो गया है। उसका नाश होने में देर नहीं लगेगी। जिसका मूल जल गया, उसके पन्ने नियम से सूख जायेंगे। उसे पानी पीलाकर हरे रखें तो भी नहीं रहेगा। ऊपर से पानी डालते ही रहो। अरे..! मूल में पानी डालता रहे। लेकिन मूल ही जल गया, फिर वह पानी को खींचने में समर्थ नहीं होता। यह स्थिति है।

मुमुक्षु :– मोह की दो स्टेज की बात की।

पूज्य भाईश्री :– हाँ, दो स्टेज की बात है। मोह के दो तबके की बात है। मन्द होना और अभाव होना। यह दो चीज बननी चाहिये। नास्ति से। अस्ति से एक तबके में उसके ज्ञान में स्वभाव भासित होना चाहिये और दूसरे तबके में उसके ज्ञान में प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय स्वानुभव होना चाहिये। आनन्द का स्वाद आना चाहिये। आत्मा का स्वाद कहो या आनन्द का स्वाद कहो, वह उसका अनुभव है।

मुमुक्षु :– ज्ञानप्राप्ति के लिये पहले पुरुषार्थ दर्शनमोह को मन्द करने का...

पूज्य भाईश्री :– दोनों एकसाथ ही है। अंधेरा टलना और उजाला होना। अशाता का मिटना और शाता का होना एकसाथ–सेम्यलटेन्यस है। कहने में कथन में दर्शनमोह में खड़ा है इसलिये वहाँ–से कहा

जाता है कि तुम इसे टालो। वह तो एकसाथ ही है। इस ओर यह मन्द होता है, इस ओर ज्ञान की सामर्थ्य विकसित होती है। ज्ञान की सामर्थ्य विकसित होती है और यह मन्द होता है। पहले, बाद में। बीज पहले या वृक्ष पहले ? ऐसा है यह तो। दोनों एकसाथ ही है।

मुमुक्षु :- ज्ञानावरणी का क्षयोपशम...

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानावरणी का क्षयोपशम संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को पर्याप्त है। चारों गति के.. तीन गति में तो संज्ञी हैं ही। मनुष्य, देव और नारकी तो मनसहित हैं ही। अपने संमुर्छन मनुष्य को गौण करते हैं। वह मनरहित है। और तिर्यंच में तो मनसहित हैं, चारों गति के संज्ञी प्राणियों को ज्ञानावरणी का क्षयोपशम पर्याप्त है। अपने सुख-दुःख के विषय में उसका प्रयोजनभूत ज्ञान, जहाँ उसने भले ही कल्पितरूप से सुख-दुःख माना है, वहाँ उसका ज्ञान बराबर काम करता है। पर्याप्तरूप से काम करता है। लेकिन फिर भी यहाँ उसे जबतक अपना हित जितनी हद तक उसकी भावना में बसना चाहिये, उसकी लगनी में, उसके जोश में आना चाहिये, उतनी हद तक नहीं आये, तबतक उसे दर्शनमोह मन्द नहीं होता। दर्शनमोह मन्द नहीं होता तबतक उसका ज्ञान आत्मा को पहचानने में कार्यक्षम नहीं होता। बस, इतनी बात है।

भूमिका के ज्ञान की निर्मलता अर्थात् योग्यता-ज्ञानप्राप्ति की योग्यता। दूसरे शब्दों में उसे ऐसा कह सकते हैं कि ज्ञानप्राप्ति की योग्यता कैसी होती है ? और उसे कब गिननी चाहिये ? होनी चाहिये ? इसपर यदि उसका लक्ष्य ही नहीं हो तो वह जो कुछ करेगा बिना लक्ष्य के बाण की भाँति सब कार्य करता रहेगा। शास्त्र भी पढ़ता रहेगा और दूसरा सब करता रहेगा। क्योंकि योग्यता है वह ज्ञानप्राप्ति का स्थान है। अब स्थान ही ज्ञात नहीं है और उस ओर लक्ष्य भी नहीं है और उसका कोई विचार नहीं है तो वह ऐसा मानेगा कि मैं यह करता हूँ इसलिये मेरी योग्यता है, मैं यह कार्य करता हूँ इसलिये मेरी योग्यता है। बुद्धिवान ऐसा विचार करेगा कि इतनी बुद्धि शास्त्र में लगाता हूँ इसलिये मेरी योग्यता है। पैसेवाला ऐसा विचार करेगा कि इतना दान देता हूँ इसलिये मेरी योग्यता है। शारीरिक शक्तिवाला ऐसा विचार करेगा कि इतना तप करता हूँ इसलिये मेरी योग्यता है। इसप्रकार तन, मन, धन तीन लगाते हैं न ? बस, इसमें तो तन, मन, धन लगाओ तो योग्यता हो गयी। लेकिन वह तन, मन, धन तेरे हैं नहीं। पहले तो यह नक्की करो। योग्यता में यह बात है कि वह शरीर भी तेरा नहीं है, वह धन भी तेरा नहीं है और वह मन भी तेरा नहीं है। पूरी बात दूसरी है।

इसलिये उसे दर्शनमोह को मन्द करने की दिशा में जाना चाहिये। और उसमें तो उसकी मुमुक्षुता, उसकी जागृति, उसकी भावना और मरकर भी ध्येय को सटकर लगे रहने का जोश, लगन, उसे उत्पन्न हुए बिना दर्शनमोह की मन्दता होती नहीं और उसके क्षयोपशम में जो निर्मलता आनी चाहिये वह नहीं आती। क्योंकि वही मल है। उसके ज्ञान में मल क्या है उसका यदि विचार किया जाय तो दर्शनमोह है वही उसके ज्ञान का मल है।

'श्रीमद्जी'ने इक जगह बहुत अच्छी बात ली है। मल और विक्षेप। मुमुक्षु को आत्मकार्य में अथवा मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं (होने) देने में उसे दो अवरोध है। क्या ? कि मल और विक्षेप। यथार्थ मुमुक्षुता प्रगट हो तो उसका मल मिटे और सत्पुरुष प्रति भक्ति हो तो उसे विक्षेप मिटे। उन्होंने दो बात ली है। दो बात साथ में ली है। निमित्त-उपादान से बात लेनी है न इसलिये यह बात वहाँ ली है। और वह बात ऐसे ही है।

जब तक परिणाम में एक विक्षेप रहता है... लोग नहीं कहते ? कि यह कार्य करने में यह एक विक्षेप है। यदि विक्षेप नहीं हो तो कार्य हो जाय। जिसे अवरोध कहा जाता है। वैसे अन्दर का जो सत् है उसके लिये भावना होनी आवश्यक है और बाह्य सत् जो है उनके प्रति भी उसकी अर्पणता और उनके प्रति

भी उसका जो सद्भाव है, यह होना आवश्यक है। क्योंकि यदि तुझे स्थूल विषय में, बाहर का विषय अंतर की अपेक्षा स्थूल है, क्योंकि उनको ज्ञान प्रगट है, यह तो अव्यक्त है अथवा शक्तिरूप है और यह व्यक्तिरूप है। व्यक्ति की तुझे पहचान नहीं हो, स्थूल विषय प्रति भी तूझे यह सत् है, ऐसा जानने में नहीं आये, अंतर सत् को पहचानने का कोई क्लास नहीं रहता, कोई अवकाश नहीं रहता, कोई परिस्थिति नहीं होती। यह परिस्थिति है। इसलिये उसे विक्षेप में डाला है। बहुत व्यवस्थित बातें की है। 'श्रीमद्जी'ने ऐसी बहुत व्यवस्थित बातें की है।

अपने यहाँ एक संकलन चल रहा है, व्यवस्थितरूप से है पूरा। 'श्रीमद्जी' में से है, 'बहिनश्री'में से लिया है, 'परमागमसार'में से लिया है। सब विषय एक जगह संकिलत करके व्यवस्थितरूप से (रखना है)। यहाँ भिन्न-भिन्न है। इसमें-से यह पढे तो अगला भूल जाय। ३०० नंबर का पढे तो २३६ भूल जाये और १९० का खयाल नहीं रहे। यह धारावाही एक विषय (है उसका) संकलन किया है। ये ३०० (नंबर का वचनामृत समाप्त) हुआ।

करुणासागर पूज्य भाईश्री शशीभाई के ८३वें जन्म-जयंती महोत्सव पर धार्मिक कार्यक्रम

मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार पूज्य भाईश्री का आगामी ८३वां जन्म जयंति महोत्सव मार्गशीर्ष सुदी-३, दि.१४-१२-१५ से मार्गशीर्ष सुदी-८, दि.१८-१२-१५ पर्यंत अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया जायेगा। इस प्रसंग पर मंडल विधान पूजन, पूज्य भाईश्री के ओडियो एवं वीडियो सी.डी. प्रवचन, भक्ति, सत्संग, सांस्कृतक कार्यक्रम रहेंगे और दि.१७-१२-१५ के दिन जिनेन्द्र रथयात्रा का कार्यक्रम रहेगा।

इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षु ट्रस्ट के कार्यालय में यहाँ पर पहुँचने की तारीख लिखें, जिससे उनकी आवास एवं भोजनकी समुचित व्यवस्था हो सके।

कार्यक्रम स्थल :- श्री शशीप्रभु साधना-स्मृति मंदिर, प्लोट नं.१९४२-बी, शशीप्रभु चोक, रूपाणीसर्कल के पास, भावनगर-३६४००१

संपर्क :- श्री सत्सुख प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४००१

नवीन प्रकाशन

पूज्य भाईश्री शशीभाई के 'अनुभवप्रकाश' ग्रंथ पर धारावाही प्रवचन 'अनुभवप्रकाशना किरणो' भाग-४ पर्युषण पर्व में, भाग-५-६ दिपावली प्रसंग पर एवं भाग-७-८ (गुजराती में) पूज्य भाईश्री की जन्मजयमति प्रसंग पर प्रकाशित किये जायेंगे।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (सितम्बर-२०१५) का शुल्क
श्री धर्मेन्द्रभाई न्यालचंद वोरा परिवार, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है,
जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' ग्रन्थमें से वचनामृत

शास्त्रमें बात आए कि बर्फके संयोगसे पानी ज्यादा ठण्डा होता है; ऐसे अधिक गणवानके संगमें रहनेसे ज्यादा लाभ होता है - ऐसा सुननेपर, वहाँ अज्ञानी चौंट जाता है;... असंगकी बात छोड़ दी ! गुणहीनका संग छोड़कर गुणवानका संग किया, परन्तु असंगता रह गयी। (अभिप्राय असंगताका रखकर ही सत्संगमें रहना योग्य है।) १०६.

❀

सब शास्त्र पढ़ लेवें, लेकिन अनुभव बिना उसका भाव खयालमें नहीं आता। 'सब अपेक्षा तो जान लेवें,' ऐसे (अज्ञानी) उसमें (जानपनेमें) ही फँस जाते हैं। १०९.

❀

आखिर कितना भी सुन लो, लेकिन सुख तो यहाँसे (अन्तरमें से) ही शुरू होता है। (सनते ही प्रयास चालु होवे, वह पात्रताका लक्षण है) यह थोड़ा सुन तो लूँ... इसमें क्या नुकसान है ? .... पीछे अन्दरमें जाऊँगा, (- इस प्रकारके परिणाममें स्वभावकी अरुचि है)। यह बात ठीक नहीं है; और एक समयकी ज्ञानपर्यायमें विचार कर-करके भी क्या मिलेगा ? त्रिकालीकी ओर ज़ौर देनेसे ही क्षणिक पर्यायकी एकता छूटकर सुख मिलेगा। १२४.

❀

जब मुनिगण अपने लिए अपनी शास्त्रमें रमती हुई बुद्धिको व्यभिचारिणी मानते हैं, तो नीचेवालोंकी तो व्यभिचारिणीबुद्धि है ही। इसपर भी (अज्ञानी) जीव यहाँ ऐसे लेते हैं कि - मुनिगण तो अपने लिए बुद्धि व्यभिचारिणी मानें वह तो ठीक है; परन्तु अपन तो थोड़ी शक्तिवाले हैं, अपनेको तो शास्त्रादिका अवलम्बन लेना चाहिए ही - ऐसे ओथ (आधार) लेकर, वहाँ सन्तोष मानकर, अटक जाते हैं। 'पहलेमें पहला तो त्रिकालीमें प्रसर जानेका है' यही सर्व प्रथम कर्तव्य है। (शास्त्रमें उपयोग लगाते समय भी यह अभिप्राय होना चाहिए। शास्त्रका अवलम्बन लेने का अभिप्राय तो नहीं होना चाहिए।) १३०.

❀

थोड़ा यह तो कर लूँ... यह तो जान लूँ... सुन तो लूँ - यह सब (अभिप्राय) अटकनेका रास्ता है। (अपने) असंख्य प्रदेशमें प्रसरकर, पूरे का पूरा व्यापक होकर, तन्मय रहो न !... सुख शान्ति बढ़ती जाएगी, विकल्पादि टूटते जायेंगे। १४०.

❀

देव, शास्त्र, गुरु, श्रवण, विचार, वांचन, मनन, उघाड़ और एक समयकी पूर्व-उत्तर पर्याय जो-जो साधनरूप कहनेमें आता है - वह सब (निश्चयसे) बाधकरूप है। - ऐसा नहीं माने, तब-तक तो त्रिकालीमें आ नहीं सकते। ऊपर-ऊपरसे बाधकरूप कहे और अन्दरमें साधनरूप मानता रहे, तो वह ही झुकाव रहा करेगा; त्रिकालीमें नहीं आ सकेगा। १४७.

❀

पहले तो यह बात नक्की कर लो कि सुननेसे ज्ञान नहीं होता; सामान्यसे (- सामान्य स्वभावके आश्रयसे) ही ज्ञान होगा। फिर भी सुननेका विकल्प उठे तो उसमें खेद होना चाहिए। 'मैं' तो वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ, वर्तमानसे ही 'मुझे' कुछ करना नहीं है। परिणाममें पुरुषार्थ सहज होता है। करुँ...करुँ... यह तो आकुलता है, बोझा है। १४८.

❀

प्रश्न :- अधिक गुणीका बहुमान करना कि नहीं ?

उत्तर :- अभिप्राय तो दूसरेका बहुमान करनेका होवे ही नहीं; और खिंचावके कारण बहुमान आजाए तो उसे दीनता माननी चाहिए, उसका भी खेद होना चाहिए। १५३.

❀

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :– ज्ञानीको तो प्रत्येक कार्य में सहज धारा वर्तती है, परंतु अज्ञानी क्या करे ?

समाधान :– अज्ञानीको ऐसी भावना रखनी कि 'मैं तो निराला तत्त्व हूँ, रागमें जुड़ना वह मेरा स्वरूप नहीं'। 'भगवान मुझे तार देंगे' ऐसा वह भले ही कहे परन्तु साथ ही जानता है कि, भगवान तो परिपूर्ण वीतराग हैं। मैं तो अपने भक्तिभावसे कहता हूँ कि–'हे प्रभो ! आप मुझे पार उतार देना' ऐसा कहते हुए भी, उसके ज्ञानमें ऐसा भाव वर्तता है कि 'मैं चैतन्य भगवान हूँ।' मैं पुरुषार्थ करूँगा तब पार होऊँगा–इसप्रकार ज्ञान तो यथार्थ ही करना चाहिये। परन्तु भक्ति करे तब भक्तिके रंगसे रंगा हुआ होता है। यदि वह कृत्रिम विकल्प किया करे तो भक्तिभाव आना कठिन होता है, भक्तिका उद्‌भव ही नहीं होता। **(स्वानुभूतिदर्शन–४७९)**

❖

प्रश्न :– 'भगवान आत्मा आबालवृद्ध सबके ज्ञानमें सदा आ रहा है' उसका क्या अर्थ ? 'अनुभवमें आ रहा है' उसका क्या आशय ? कृपया समजाइये।

समाधान :– आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान–लक्षण तुझे पहिचाननेमें आये वैसा है। 'अनुभवमें आ रहा है' अर्थात् तद्रूप तू है, तू अपने स्वभावसे परिणमित हो रहा है। 'अनुभवमें आता है' उसका यह अर्थ नहीं कि वेदनरूपसे, स्वानुभूतिरूपसे अनुभवमें आता है। परन्तु परिणमनमें तू ज्ञान–लक्षणसे परिणमित हो रहा है, उससे तू पहिचाना जाये वैसा है। तू स्वयं ही है, तो तू अपनेको क्यों नहीं जानता ? तू ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानस्वभावरूप तू स्वयं ही हो रहा है। तू स्वयं अनुभवरूप विद्यमान है। परन्तु यह अनुभव अर्थात् आनन्दके वेदनकी अनुभूति नहीं; परन्तु तू अपने अस्तित्वरूपसे मौजूद है उसे पहिचान ले। तू ही है। तू जड़ नहीं हो गया, परन्तु अंदर विकल्पोंमें ऐसा उलझ गया है कि उनसे छूटना तुझे कठिन पड़ रहा है। एक–एक ज्ञेयमें खंड–खंडमें–उलझ गया है जिससे अखंडको खोजनेमें कठिनाई हो रही है। तू ज्ञाता है, निःशंकरूपसे सबको जानता है। **(स्वानुभूतिदर्शन–४८०)**

❖

प्रश्न :– यथार्थ रुचिवान जीवकी परिणति कैसी होती है ? कृपया बतलाईये।

समाधान :– जो रुचिवान हो उसे ऐसा लगता है कि, करने योग्य कार्य तो यह एक ही है–शुद्धात्मरूप परिणति करना। वही कर्तव्य है; परन्तु वह, मुझसे अभी तक हुआ नहीं है। आत्मा शुद्ध है परन्तु पुरुषार्थ करके मैं शुद्धताको प्राप्त नहीं कर पाया। उसका हृदय भीगा हुआ होता है। वह अशुभसे बनचनेके लिये शुभमें खड़ा रहता है, परन्तु शुभमें सर्वस्व नहीं मानता। जो स्वच्छंदी जीव हैं वे अपनेको पर्यायसे शुद्ध मानते हैं और कहते हैं कि यह सब उदयाधीन होता है; परन्तु वह एक प्रकारका शुष्कज्ञान है।

रुचिवान जीवको ज्ञान एवं क्रियानयकी मैत्री भले ही अंतरमें परिणतिरूपसे प्रगट नहीं हुई है; तथापि वह क्रियामें मोक्ष नहीं मानता। वह ऐसा मानता है कि : आत्मा शुद्ध है, परंतु मैं तद्रूप परिणमित नहीं हुआ हूँ। उसे शुभभाव आते हैं परन्तु शुभमें सर्वस्व नहीं मानता, और शुद्धभाव कैसे प्रगट हो–ऐसी उसकी भावना रहती है। आत्मा वस्तुस्वभावसे शुद्ध है, ऐसी रुचि एवं भावनासे–जो जिज्ञासु है, मुमुक्षु है, आत्मार्थी है–उसका हृदय आर्द्र (भींजा हुआ) रहना चाहिये, जो शुष्कज्ञानी है उसका हृदय भींजा हुआ नहीं होता और वह अन्य (क्रियाजड़) क्रियाका पक्षपाती हो जाता है।

रुचिवान जीवको 'कषायकी उपशांतता मात्र मोक्ष अभिलाष' मात्र मोक्षकी अभिलाषा रहती है। आत्मार्थीको शोभा न दे वैसी कषाय उसके नहीं होती।

'भवका खेद, अंतर दया, वहाँ आत्मार्थ निवास' आत्मार्थी–हृदय ऐसा होता है कि : शुद्धात्मा कैसे प्रगट हो ? जिज्ञासा ऐसी होती है कि शुद्धात्माकी परिणति कैसे प्रगट हो ? वैसी भावनासे उसका हृदय भींजा हुआ होता है। ऐसे जीवकी ज्ञान एवं क्रियानयका पक्षपाती नहीं कहा जाता परन्तु वह मुमुक्षुकी भूमिकामें है। मैं आगे नहीं बढ़ पाता वैसी खटकसे उसका हृदय भींजा हुआ रहता है।

आत्मार्थी भक्तिमें जुड़ता है तथा यथाशक्ति विरक्ति भी होती है। वह बाह्यमें लीन (रचापचा) नहीं रहता। उसके भीतर कषायकी तीव्रता नहीं बढ़ती, किन्तु मन्दता होती है; उसे आत्मार्थका प्रयोजन रहता है और अंतरमें ऐसी ही रुचि रहती है।

जिसके शुद्धज्ञान और क्रियानयकी मैत्री प्रगट हुई है उस ज्ञानीकी बात अलग है, तथा जिसे ज्ञानमय या क्रियानयका पक्षपात वर्तता है उस अज्ञानीकी बात भी जुदी है। जब कि यह तो रुचिवान जीव है।

क्या चैतन्यका कार्य करना वह तेरा कर्तव्य नहीं है ? अपना समय व्यर्थ मत गँवाना; इस मनुष्यभवका उपयोग आत्माके लिये कर, शरीरके लिये अनन्तकाल खोया है। शरीरकी सुविधाओंके लिये अनन्तकाल गुजारा–गँवाया है। अब एक भव तू आत्माके लिये निकाल। अर्थात् इस भवका ऐसा उपयोग कर कि समस्त भवोंका अभाव हो जाय। अभी तक शरीरके लिये, बाह्य सुविधाओंके लिये अनंतभव गँवाये हैं; किंतु तेरे परिभ्रमणका अंत नहीं आया। अब आत्माके लिये इस एक भवका ऐसा उपयोग कर जिससे कि तेरे समस्त भवोंका अभाव हो जाय।

(स्वानुभूतिदर्शन–४८१)

❖

प्रश्न :– आत्मज्ञान प्रगट करनेके लिये तपश्चर्या करनी पड़ती है ?

समाधान :– आत्मा ज्ञानस्वभावी है; उसके ज्ञानको प्रगट करनेके पुरुषार्थमें, शुभभाव बीचमें आते हैं; परन्तु मात्र तपश्चर्या करे तो कुछ नहीं होता। सच्चे मार्ग पर चलना हो तो सर्वप्रथम पहिचान करे कि कौनसे मार्गपर चलना है ? मार्गको जाने बगैर कोई चलने लगे और क्रियायें करने लगे; मगर कहाँ जाना है सो तो प्रथम निश्चित् कर ! आत्मा में जाना है तो उसे पहिचाने बिना तू अपना कदम कहाँ रखेगा ? ज्ञान यथार्थ कर तो तेरी ज्ञान–परिणति की जो क्रिया होगी वह रागसे भिन्न पड़ेगी, मार्ग अन्तरमें है, बाहर नहीं।

भेदज्ञानज्योति अंतरसे राग और स्वभावको भिन्न करके स्वानुभूतिकी दशा प्रगट करती है। स्वरूपलीनता करना वह ज्ञानज्योतिका सहज स्वभाव है। कृत्रिम विभाव अनादिसे उसे सहज जैसा हो गया है; परन्तु अपना स्वभाव प्रगट

होना वह सहज है। ज्ञानज्योति जहाँ स्वभावके पथ पर चली वहाँ स्वभाव स्वभावमेंसे विकसित होता जाता है। और लीनता बढ़नेपर भूमिका वृद्धिगत होती जाती है। ज्ञानज्योति लीला मात्रमें विभावको उखाड़ देती है। बीचमें जो विभाव आयें उन्हें निकाल देती है।

छोटे बच्चे स्कूलमें पढ़ते हों और होशियार हों तो थोड़ी ही देरमें उत्तर लिख देते हैं, तुरन्त जवाब देते हैं, उन्हें बोझ नहीं लगता। यह तो दृष्टान्त है। वैसे ही ज्ञानज्योतिकी शक्ति प्रगट होनेपर वह लीलामात्रमें स्वरूपमें लीन हो जाती है। परिणति बाहर आनेपर उसे अंतरमें ले जाना वह अपने हाथकी बात है, वह दुर्लभ नहीं है। **(स्वानुभूतिदर्शन-४८२)**

❖

प्रश्न :- अंतरमें जानेके लिये लाचारी करनी पडती है ?

समाधान :- परिणतिकि डोरको अंतरमें ले जाना वह ज्ञानीके हाथमें है। परिणतिकी डोरको स्वरूपकी ओर खींचना वह उनके हाथकी बात है, उसमें किसीकी लाचारी करनी नहीं पड़ती। पुरुषार्थकी मंदताके कारण वह बाहर आ जाती है, परंतु बाहर आकर स्वयं अंतरमें लीलामात्रमें जा सकती है। अपनी स्वरूप-परिणतिको ज्ञानी बढ़ाता जाता है; तदर्थ अन्य किसीके आश्रयकी जरूरत नहीं है। **(स्वानुभूतिदर्शन-४८३)**

❖

प्रश्न :- चैतन्यका तथा देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति आदिका लाभ सब गुरुदेवके प्रतापसे प्राप्त हुआ है।

समाधान :- यह चैतन्यका लाभ ही अंतरका सच्चा लाभ है, ऐसा गुरुदेव कहते हैं। बाह्य में देव-शास्त्र-गुरुका लाभ प्राप्त होना भी अति दुष्कर है, गुरुदेव मिले, जिनेन्द्रदेव मिले, शास्त्र मिले, यह सब लाभ मिलना और उन कार्योमें जुड़ना सो सब दुर्लभ है; परन्तु इस चैतन्यका लाभ तो उनसे भी दुर्लभ है।

'परमात्मप्रकाशमें योगीन्द्रदेव कहते हैं न कि : जीवको अनन्तकालमें जिनेन्द्रदेव नहीं मिले तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ। वे दोनों दुर्लभ है। जिनेन्द्रदेव मिलने मुश्किल हैं, तिसपर भी महाभाग्यसे जिनेन्द्रदेव भी मिले; परंतु अंतरमेंसे ग्रहण नहीं किया, इसलिये वास्तवमें नहीं मिले। तथा एक सम्यग्दर्शन प्राप्त होना महामुश्किल है। अतः उन सब लाभोंके साथ-साथ चैतन्यके लाभकी दृष्टि (अभिप्राय) रखना; चैतन्यका लाभ लेना वही कर्तव्य है।

चैतन्यके लाभपर दृष्टि रखने जैसी है कि चैतन्यका लाभ कैसे प्राप्त हो ? चैतन्यका अस्तित्व कैसे ग्रहण हो ? 'मैं यह चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ' ऐसे अपनेको ग्रहण होना चाहिये। मात्र रटनेसे और बोलनेसे वह (ग्रहण) नहीं होता। यद्यपि उसकी भावना हो वह और बात है; परंतु उसके मूल अस्तित्वको ग्रहण करना। मेरी अस्ति चैतन्यरूप है। यह जो परद्रव्य दृष्टिगोचर होते हैं वे मैं नहीं हूँ। वैसे ही यह जो शुभाशुभभावरूप विभावोंका अस्तित्व है वह भी मैं नहीं हूँ। मेरा अस्तित्व मुझमें है; किन्तु अन्य अस्तित्व मुझमें नहीं है; मैं उनसे जुदा हूँ। जो साधकदशाकी क्षणिक पर्यायें होती हैं, वे भी मूल द्रव्य नहीं है। मूल द्रव्य तो अखंड स्वरूपसे पूर्ण है। उस पूर्ण स्वरूपके ऊपर दृष्टि करे तो पूर्णताकी पर्याय प्रगट हो। साधकपनेकी पर्यायोंमें भी रुकने जैसा नहीं है। वे बीचमें आती हैं जरूर, मगर उनमें रुकने जैसा नहीं है। जो अनादि-अनन्त शाश्वत पूर्ण है उस चैतन्यका लाभ कैसे प्राप्त हो ? सो करने योग्य है। वह लाभ प्रथम आंशिक प्राप्त होता है और बादमें पूर्ण प्राप्त होता है। **(स्वानुभूतिदर्शन-४८४)**

❖

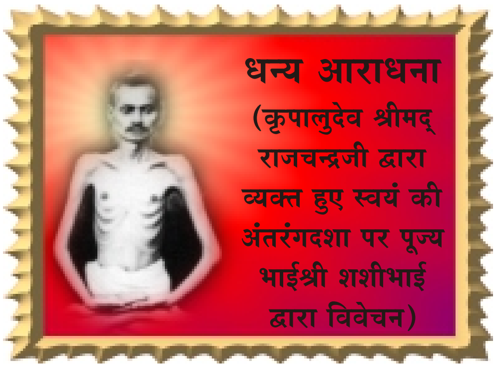

४३९

बंबई, चैत्र सुदी ६, गुरु, १९४९

'उपाधिका योग विशेष रहता है। जैसे जैसे निवृत्तिके योगकी विशेष इच्छा हो आती है, वैसे वैसे उपाधिकी प्राप्तिका योग विशेष दिखायी देता है। चारों तरफसे उपाधिकी भीड़ है। कोई ऐसा मार्ग अभी दिखायी नहीं देता कि अभी इसमेंसे छूटकर चले जाना हो तो किसीका अपराध किया न समझा जाय। छूटनेका प्रयत्न करते हुए किसीके मुख्य अपराधमें आ जानेका स्पष्ट सम्भव दिखायी देता है, और यह वर्तमान अवस्था उपाधिरहित होनेके लिये अत्यंत योग्य है; प्रारब्धकी व्यवस्था ऐसी बाँधी होगी।'

कृपालुदेवको सर्व संयोगोंसे अपने भिन्नत्व का अनुभव करते हुए किस प्रकार प्रवर्तमान संयोग भिन्नरूप दिखते थे, यह इन वचनोंमें स्पष्ट मालूम पड़ता है। बाह्यमें उपाधियोग बढ़ता जाता है, और अंतरंगमें तो उपाधिक कार्योंसे निवृत्त होनेकी इच्छा वृद्धिगत होती जाती है। निवृत्तिकी भावना वृद्धिगत होती थी, फिर भी बाह्य संयोगोमें चारों तरफसे उपाधिकी भीड हो रही हो, ऐसी स्थिति दिखती है। यह इस पत्रसे मालूम पड़ता है। और इसी प्रकारका उल्लेख उन्होंने अंगत काव्य ('धन्य रे दिवस आ अहो') में भी किया है। वर्तमानमें चल रही उदासीन अवस्था निवृत्तियोग के लिये अत्यंत योग्य है; ऐसा आत्मामें रहता था, इतना ही नहीं उपाधिमें से छूटकर चल पड़े ऐसी परिणामशक्ति होने पर भी, ऐसा करनेसे किसीके प्रति मुख्य अपराध होनेका स्पष्ट संभव देखकर, वैसी हठयुक्त प्रवृत्ति नहीं करके, उन्होंने पूर्व प्रारब्धकी प्रबंधित व्यवस्थाका अनुसरण करना उचित समझा है। और इसतरह प्रारब्ध अनुसार प्रवृत्तिमें रहते हुए भी, भिन्न ज्ञानमय आत्माके ज्ञानरूप परिणमनसे, प्रतिक्षण पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षके प्रति अनन्य भावसे आगे बढ़ रहे हैं। धन्य है उनकी आराधना !

❖

४४४

बंबई, चैत्र वदी ३०, रवि, १९४९

'संसारीरूपसे रहते हुए किस स्थितिसे वर्तन करें तो अच्छा, ऐसा कदाचित् भासित हो, तो भी वह वर्तन प्रारब्धाधीन है। किसी प्रकारके कुछ राग, द्वेष या अज्ञानके कारणसे जो न होता हो, उसका कारण उदय मालूम होता है।'

कृपालुदेवको निवृत्तयोगकी तीव्र भावना होने पर भी, प्रारब्धाधीनरुप, संसारीरुप रहनेके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं दिखता। ऐसा जानकर वे प्रवृत्तिके बीच दिखते तो हैं किन्तु उस प्रवृत्ति सम्बन्धित किसी भी प्रकारका कार्य, राग-द्वेष या अज्ञानके कारणसे - निमित्तसे कुछ नहीं किया जाता है; इसलिये वह प्रवृत्ति सिर्फ उदयके कारण ही है - ऐसा जानने योग्य है। इस पत्रमें भी उनका, संयोगरूप परपदार्थके प्रति अकर्तृत्व स्पष्ट प्रदर्शित होता है।

❖